कौन-सी भाषा हो शिक्षा का माध्यम?

प्रमोद कुमार दूबे*

ज्ञान प्राप्ति की प्रधानता होने पर शिक्षा में माध्यम भाषा का स्थान महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। विद्यार्थी की अपनी भाषा भी शिक्षा की माध्यम भाषा बन सकती है। इस तथ्य के पक्ष में प्रस्तुत लेख साक्ष्य प्रस्तुत करता है और देशी भाषाओं में शिक्षा की संभावनाओं को रेखांकित करता है। यह लेख परोक्षतः प्रश्न खड़ा करता है कि यदि ज्ञान का मूल स्रोत प्रकृति है तो प्रकृति के निकट रहनेवाले लोगों की भाषा शिक्षा की माध्यम भाषा के रूप में क्यों नहीं विकसित हो सकती? शिक्षा के प्रसार में सहयोगी दृष्टिकोण देनेवाला यह लेख भूमंडलीकरण के दौर में बढ़ती एकरूपता और दिन-दिन मरती देशी भाषाओं की सुरक्षा के उपाय की ओर ध्यान दिलाता है।

'18वीं और 19वीं शताब्दी में जब सभी भारतीय बालक-बालिकाओं को उन्हीं की भाषा में प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी तब आधुनिक भारतीय भाषाओं में काव्य और काव्यशास्त्र के साथ साथ विभिन्न जीवनोपयोगी विषयों और शिल्पों पर विविध प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा था। क्योंकि शिक्षक वही है जो अपने शिष्य की स्थिति के अनुरूप लोकभाषा, प्राकृत अथवा संस्कृत के माध्यम से छात्र को ज्ञान प्रदान करता है, जैसा कि कहा गया है-

संस्कृतप्राकृतै वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः।
देशभाषानुरोधेन बोधयेत् स गुरुः स्मृतः ।।

प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में किसी एक भाषा को माध्यम भाषा के रूप में प्रयुक्त करने का नियम नहीं था, जैसा कि आजकल अँग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में अँग्रेज़ी अनिवार्य है। परंपरानुसार शिक्षक उस भाषा को शिक्षा का माध्यम बना सकता था जिससे छात्र विषयवस्तु को समझ सकें (प्राचीन भारतीय शिक्षाव्यवस्था का विहंगावलोकन, आलेख-एम. जी. चतुर्वेदी, परिप्रेक्ष्य, न्यूपा, अप्रैल 2011. पृ.-5)। इस कथन की पुष्टि सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक धर्मपाल की पुस्तक 'रमणीय वृक्ष' The Beautiful Tree Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century, Biblia Impex, New Delhi, 1983, Reprinted by Keerthi Publishing House Pvt. Ltd. Coimbatore, 1995) में पृष्ठ-106 पर दिए गए तथ्यों से होती है। 2 दिसम्बर 1822 को कोयम्बतूर के जिला कलेक्टर जे. सलाइवन ने चौदह तहसीलों के विद्यालय

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, भाषा शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली।

में पढ़ाई जाने वाली भाषाओं का विवरण प्रस्तुत किया है जिसमें तमिल, तेलगु और कन्नड़ के साथ हिन्दी भी है। उक्त पुस्तक के पृष्ठ 127 पर उत्तर आर्कोट जिले के कलेक्टर विलियम कुक की टिप्पणी में बताया गया है कि 'तमिल, तेलगु और हिन्दी शालाओं की संख्या सबसे अधिक है। इन शालाओं में सामान्य रूप से पाँच वर्ष आयु के बच्चे भेजे जाते पाँच-छह वर्ष के समय में उनका इतना विकास होता है कि वे लेखा रखने में, सार्वजनिक व्यवहारों में काम करने में, कर्णम्, शराफ, व्यापारी और ऐसे ही अन्य लोगों की सहायता कर सकते हैं। तत्पश्चात् वे स्नातक बनकर सार्वजनिक क्षेत्र में काम करते हैं या परिवार का व्यवसाय करते है। 'हिन्दी, तमिल, तेलगु इत्यादि प्रांतीय भाषाओं को 'देशभाषा' कहना पहले अधिक प्रचलित था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची इत्यादि भाषाओं के साथ 'देशभाषा समुद्भवाः' जैसा कथन मिलता है। तथ्य बतलाते हैं कि 18वीं सदी तक भारत की शिक्षा व्यवस्था में ज्ञान प्राप्ति के सामान्य स्तर पर माध्यम भाषा की कोई बाध्यता नहीं थी, स्कूली भाषा और घरेलू भाषा के बीच गहरी खाई नहीं थी, तब माध्यम भाषा की प्रमुखता नहीं, बल्कि ज्ञान प्राप्ति की प्रमुखता थी। शिक्षा-क्षेत्र में ज्ञान ग्रहण की प्रक्रिया को सुगम बनाने वाली भाषा को स्थान दिया गया था। इसीलिए शिक्षा में देशी भाषाएँ स्वीकृत थीं, उन्हें अशिक्षितों-गँवारों की बोली मान कर आज की तरह उपेक्षित नहीं किया गया था और न किसी भाषा विशेष को शिक्षा का माध्यम मानने की बाध्यता थी। इसी मान्यता के कारण शिक्षा का चौमुखी विस्तार हुआ था। धर्मपाल लिखते हैं कि 'पहले तो समाज के सभी वर्ग, सभी क्षेत्र के लोग, किसी प्रकार की जाति आदि रुकावटों के बिना पाठशालाओं में एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे, उसकी वजह से सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवृत्त होने के लिए सभी को प्रोत्साहन मिलता था' (रमणीयवृक्ष, पृ.77)। इस कथन की सच्चाई अँग्रेज कलेक्टरों द्वारा 18वीं सदी के भारत की शैक्षिक स्थिति के सर्वेक्षणों से उजागर होती है। 'रमणीयवृक्ष' में औपनिवेशिक भारत की चारों प्रेसीडेंसियों के शिक्षा-सर्वेक्षण की तालिकाएँ दी गई हैं। जिनसे शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय-महाविद्यालयों और शिक्षा के विषयों का पता चलता है। विलियम एडम ने 1835-1838 ई. के दौरान जातियों के आधार पर बंगाल और बिहार के स्कूली छात्रों एवं शिक्षकों की सूची प्रस्तुत की है जिससे मुर्शिदाबाद, वीरभूमि, बर्धमान, दक्षिण बिहार और तिरहुत आदि क्षेत्रों की जातियों की शैक्षिक स्थिति का पता चलता है। इन सूचियों *(रमणीय वृक्ष, पृ.305-310)* से ज्ञात होता है कि आज की अनुसूचित जातियों के छात्र और शिक्षक दोनों ही पढ़ने और पढ़ाने के कार्य से जुड़े हुए थे। *रमणीय वृक्ष* के अनुसार 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के तीन-चार दशकों तक भारत के विद्यालय-महाविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले विषयों में भाषा-साहित्य और गणित के अतिरिक्त खगोलशास्त्र, कानून, धर्मशास्त्र और चिकित्साशास्त्र प्रमुख थे। पारिवारिक व्यवसाय विभिन्न कौशलों पर आधारित थे।

विगत एक हज़ार वर्षों में जनपदीय प्राकृतों और संस्कृत से विकसित आज की प्रांतीय भाषाओं की ज्ञानराशि इतनी पर्याप्त अवश्य थी जिनकी शिक्षा से तत्कालीन विकास को गति मिल रही थी, भारत का व्यापार विदेशों में फैला

हुआ था। देशी भाषाओं में ज्ञान विषयक लेखन और अध्यापन प्रचलित था जिससे जन-जन तक ज्ञान का प्रसार था। कृषि संबंधी ज्ञान देने वाले घाघ-भड्डरी के दोहे इन्हीं प्रयासों के उदाहरण हैं। इन दोहों से किसान को मौसम विज्ञान, बीजों की रोपाई, पशुओं के लक्षण, नीति कौशल इत्यादि विषयों की जानकारी मिलती है। घाघ-भड्डरी के दोहों में निहित ज्ञान का मूल स्रोत खगोल विज्ञान है। उनके कार्य से ज्ञात होता है कि संस्कृत में उपलब्ध शास्त्रीय ज्ञान को घाघ ने सरल भाषा में प्रस्तुत कर जनमानस तक पहुँचाया है। ज्ञान प्रसार का यह अभियान अप्रत्याशित घटना नहीं है, सभी प्रांतीय भाषाओं में विविध ज्ञान विषयक लेखन प्राप्त होता है। *रामायण* और *भागवत* आधारित रचनाएँ तो सर्वत्र मिलती हैं, यह मात्र साहित्यिक समृद्धि का उदाहरण नहीं है, इनमें लोकशिक्षा का उद्देश्य निहित है। देशी भाषा अवधी में रचित तुलसी का लोकवेद *रामचरितमानस* आम आदमी को पारंपरिक ज्ञान से समृद्ध करता है, यह सुनने और याद कर लेने की सहज सुविधा देता है, रीतिकालीन कवि बिहारी के दोहों के शृंगार को छोड़ यदि हम ज्ञानपक्ष को देखें तो ज्ञात होता है कि उन छोटे दोहों में ज्ञान का सार तत्व मधु सरीखा भरा गया है। इसी प्रकार सारा संत साहित्य लोक-कण्ठ में उतरकर शिक्षा देने वाला साहित्य है। इस तरह की विरासत भारत की सभी प्रांतीय भाषाओं को प्राप्त है।

इन देशी भाषाओं की उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि इनमें गहरे अंतर्संबंध हैं। ये एक दूसरे में रूपांतरित होती हैं, मीरा, तुलसी, कबीर, विद्यापति इत्यादि कवियों की रचनाएँ देशी भाषाओं में सामान्य उच्चारण भेद के साथ यात्रा करती हैं। देशी भाषाओं के अंतर्संबंध से ज्ञान विषयों का वितरण भी एक भाषा से दूसरी भाषा में होता रहा। ज्ञान आवंटन के इस अभियान में शिल्प-स्थापत्य, आयुर्वेद, पाकशास्त्र, संगीत और प्रसाधन इत्यादि पारंपरिक विषय ही नहीं, आर्थिक और साहित्यिक विषय भी एक भाषा ने दूसरी भाषा को दिए। समग्रता में देखें तो ज्ञात होगा कि लोक और शास्त्र के बीच ज्ञान का सेतु सक्रिय रहा है। श्रुति या वाचिक परंपरा जनमानस को नाट्यकला-सांग या स्वांग, रागिनी, पाण्डवानी, आल्हा, बिरहा इत्यादि अनेक माध्यमों द्वारा शिक्षा देने का कार्य करती रही है। हरियाणवी के महान लोक-गायक लखमीचंद की स्वरचित रागिनियों से होनेवाली जन-शिक्षा को लोकप्रिय शिक्षा का दर्ज़ा दिया जा सकता है। इस प्रकार के जनोद्बोधक व्यक्ति लगभग प्रत्येक क्षेत्र में हुए हैं जिनकी वाणी से समाज ज्ञान समृद्ध होता रहा है। जन-भाषाओं को ज्ञान-समृद्ध करने में संस्कृत की भूमिका एकांगी नहीं है, जनभाषाओं ने संस्कृत को लोकानुभवों से समृद्ध किया है। उदाहरण के लिए, संस्कृत नाटकों के विकास में नाट्यकला के प्राचीन स्रोत शौरसेनी प्राकृत की नाट्य परंपरा का योगदान भी स्वीकार किया जाता है। चूँकि ज्ञान का मूलस्रोत प्रकृति है और जनभाषाएँ प्रकृति के निकट रहने वालों के व्यवहार की भाषा है, अनेक टटकी अनुभूतियाँ और सजीव तथ्य जन-भाषाओं में एकत्र होते हैं और उन्हें सुबद्ध भाषाएँ उपयोग करती हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनों परस्पर पूरक भाषाएँ हैं। इन्हें सहगामिनी माना गया है। इन दोनों को पाणिनीय शिक्षा में समान वर्ण संख्याओं की भाषा कहकर एक साथ स्मरण किया गया है। लोकाचार और वेदाचार, आगम और निगम दोनों

साथ-साथ चलते हैं। रेखा और अंक के याज्ञिक गणित संस्कृत और प्राकृत दोनों में एकसमान प्राप्त होते हैं। आशय यह कि हज़ारों वर्ष से देशी भाषाएँ भी शिक्षा का माध्यम रही हैं, ज्ञान ग्रहण के लिए किसी एक माध्यम भाषा की बाध्यता बिल्कुल नहीं रही है। यदि ज्ञान तक पहुँचने के पहले शिक्षा की माध्यम भाषा से जूझने का संकट घिर आता हो तो यह शिक्षा का गंभीर दोष कहा जाएगा। आधुनिक शिक्षा की गति को धीमी बनाने में उक्त दोष को भी कारण माना जा सकता है।

यह सच है कि अनुसंधान और विकास की भाषा को शिक्षा में वरीयता अवश्य ही प्राप्त होगी। परंतु सारा अद्यतन ज्ञान अँग्रेज़ी में उत्पादित नहीं होता, उसे भी अन्य देशों की भाषाओं से अनुवाद द्वारा ज्ञान लेना पड़ता है। यह कार्य कोई भी भाषा कर सकती है। भूमंडलित विश्व में शिक्षा की माध्यम भाषा होने की दावेदारी कोई एक भाषा नहीं कर सकती और न किसी एक भाषा विशेष को शिक्षा और सुशिक्षितों की भाषा मानना उचित है। ज्ञान का आँगन यह जो प्रकृति है-किसी की बँधुआ नहीं है। मान लें, आप उत्तराखण्ड के पर्वतीय वन में गए हैं, वहाँ किसी झाड़ी में बाघ छिपा है, आप नहीं जानते कि आस-पास मौत घात लगाकर उचित समय की ताक में बैठी है। तब जान जाने की संभावना से इनकार कैसे किया जा सकता है। लेकिन संयोग से आपने उत्तराखण्ड की पाठ्यपुस्तक में संग्रहित 'झूपा की मुठभेड़' कहानी पढ़ी है और आप जानते हैं कि बाघ की देह गंध जलते बालों की दुर्गंध की तरह होती है, इसे क्षेत्रीय भाषा में 'किड़ैन' कहा जाता है। यह जानकारी आपको अवश्य आगाह कर देगी और आपकी जान बच जाएगी। इस अनिवार्य ज्ञान की खोज किसी प्रयोगशाला में नहीं हुई है। प्रकृति के बीच रहने वाले जनजीवन का अनुभव ही इस ज्ञान का स्रोत है जो जनपदीय भाषा से लिखित साहित्य में आता रहा है। प्रकृति के निकट विकसित हुई जनपदीय भाषाएँ प्राकृतिक ज्ञान से समृद्ध होती रहती हैं, जिस ज्ञान परंपरा का उपयोग व्यवस्थित अध्ययन के लिए बहुधा होता रहा है। ज्ञान केवल कृत्रिम प्रयोगशाला में ही पैदा नहीं होता, प्रयोशालाओं से पहले वह प्रकृति से मनुष्य को प्राप्त होता है। यह तथ्य केवल औषधीय उद्योग के संदर्भ में ही नहीं, लोहा, ताँबा, सोना इत्यादि धातुओं सहित अनेक औद्योगिक उपक्रमों के संदर्भ में भी प्रामाणिक है। सच तो यही है कि औद्योगिक क्रांति के बाद व्यापक ज्ञान क्षेत्र अनुसंधान केंद्रों में सिमटता गया और आज वह स्वयं एक उद्योग हो गया है। उसे वितरित करने वाली भाषा भी ज्ञान-उद्योग का ही उपकरण है। इसीलिए शिक्षा-क्षेत्र में सभी भाषाएँ समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं हैं। लेकिन आधुनिक विकास के साथ मनुष्यता के ह्रास को भारी विपत्ति माना जा रहा है। आधुनिक विकास अर्थाश्रित है, अर्थहीन व्यक्ति आधुनिक सुख-साधन नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए अर्थ की दासता बढ़ती जा रही है।

वास्तव में ज्ञान के दूसरे क्षेत्र भी कम महत्त्व के नहीं हैं, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान यदि विकासदायी है तो दूसरे ज्ञान क्षेत्रों से हमें व्यवस्था और सुरक्षा इत्यादि अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। उत्तरआधुनिक विचारक तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि भाषा के बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है, जहाँ तक शब्द जाते हैं वहीं तक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। पिछली

सदी में भाषा की उपेक्षा हुई, यह बड़ी भूल है। आधुनिकता के पश्चिमी आलोचक अंधाधुँध विकास को भी दोषपूर्ण मानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि शिक्षा में किसी एक भाषा का वर्चस्व कायम रखना कठिन होगा, जब ज्ञान के विविध क्षेत्रों का विस्तार हो रहा है तो प्राकृतिक ज्ञान स्रोतों की भाषाओं को साथ लेना ही होगा, इससे शिक्षा को व्यापक प्रसार मिलेगा। यह उचित नहीं है कि जनसामान्य की भाषा में संचित जड़ी-बूटियों इत्यादि कई प्रकार के ज्ञान को हासिल करके बड़े उद्योग खड़े हो जाएँ और उन भाषाओं और उनके पारंपरिक ज्ञान के प्रति कृतज्ञता के बदले उपेक्षा का भाव हो। यांत्रिक दुनिया से अलग भाषा और साहित्य के क्षेत्र में प्रकृति प्रदत्त अनेक ज्ञान और संवेदनशील अनुभव सृजन के उपादान बनते रहते हैं जिसके लिए कृतज्ञता सहित जनपदीय भाषा को निरंतर पोषित करना होगा। ज्यों-ज्यों शिक्षा जन-जीवन को केंद्र बनाएगी, शिक्षा में जनपदीय भाषाओं का महत्त्व बढ़ता जाएगा और शिक्षा की व्यापकता भी।